आत्मसम्बोधनम

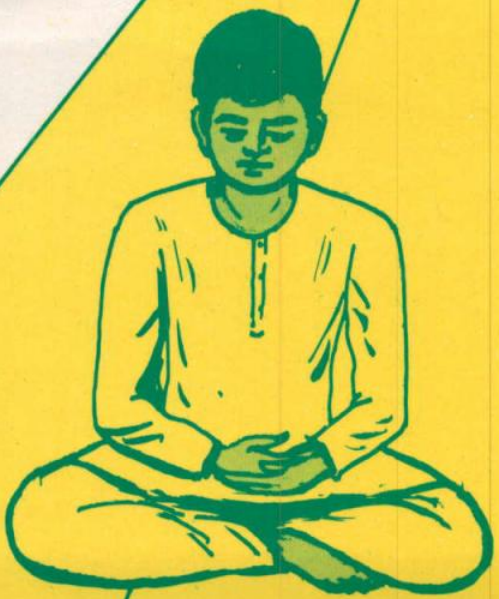

नेमीचन्द पाटनी

आत्मसम्बोधनम्

(समाधिपूर्वक देहत्याग की भावना)

लेखक :

नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४ बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

प्रथम दो संस्करण	:	6000
(26 जुलाई 1992 से दिसम्बर 1995 तक)		
तृतीय संस्करण		3000
(10 जून 1998)		
योग		9000

मूल्य : ***दो रुपए पचास पैसे***

टाइपसैटिंग :
प्रिन्टोमैटिक्स
दुर्गापुरा, जयपुर
फोन : 549274

मुद्रक :
जे. के. ऑफसैट प्रिन्टर्स
जामा मस्जिद
दिल्ली - 110006

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्री रतनलालजी केरोत, उदयपुर	501 =00
2.	श्री छगनराजजी भण्डारी, मद्रास	500 =00
3.	श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमीकल्स,' दिल्ली	251 =00
4.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध. प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251 =00
5.	श्रीमती भँवरीबाई ध. प. श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	251 =00
6.	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	151 =00
7.	श्री कमलकर सिंघवी, उदयपुर	111 =00
8.	श्रीमती पानादेवी ध. प. श्री मोहनलाल सेठी, गोहाटी	101 =00
	योग :	2117 =00

अपनी बात

यह आत्मसम्बोधनम् नाम की भावना, आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ जागृत करने की भावना है। संसारी प्राणी को शरीर के प्रति तीव्र अनुराग होता है; जब इसके छूटने का अर्थात् मृत्यु का काल आता है, तब इसके छोड़ने में तीव्रतम दुःख अनुभव करता है और इसका संयोग बनाये रखने के लिए अत्यन्त आकुलित होकर शरण ढूढ़ता है कि कोई भी डॉक्टर आदि आकर इसको बचा लेवे। लेकिन हमको प्रत्यक्ष अनुभव है कि मरणकाल आ जाने पर हमारे कोई प्रयास सफल नहीं हो पाते और यह जीव तीव्र आकुलित रहता हुआ अत्यन्त क्लेशित भावों के साथ मरण प्राप्त कर अपने भावों के अनुकूल अन्य गति को चला जाता है।

इसीप्रकार भ्रमण करते-करते इस जीव को अनन्त काल बीत गया। वास्तविक स्थिति तो यह है कि जिस शरीर को बनाए रखने के लिए यह प्रयास कर रहा है, वह शरीर ही इसका नहीं है, यह आत्मा तो चेतनतत्त्व है और यह शरीर अचेतन है। अतः इसके रखने का कितना भी प्रयास करे सफल कैसे हो सकेगा। अगर यह आत्मा इस यथार्थ स्थिति को गम्भीरता के साथ समझकर एक बार भी इस शरीर के साथ ममत्व छोड़ दे, तो इसप्रकार के भव परिवर्तनों के चक्करों के अन्त होने की स्थिति का प्रारम्भ हो सकता है और मृत्यु के महासंकट काल को महोत्सव के रूप में परिवर्तित करके शान्ति के साथ देह का त्याग कर सकेगा।

इस दृष्टिकोण को मुख्य रखकर इस भावना की रचना हुई है। इस भावना की रचना का भी एक सहज प्रसंग बन पडा था। हमारे अत्यन्त निकट परिचित दो आत्मार्थी बन्धुओं की ऐसी स्थिति के समाचार प्राप्त हुए जैसे उनका मृत्युकाल सन्निकट ही आ गया हो। उस समय मुझे सहज ही ऐसी भावना प्रगट हुई कि अपने को भी किसी भी समय ऐसी स्थिति

आ सकती है, उस समय इस आत्मा को कौन सम्बोधन कर जागृत कर सकेगा। अतः स्वयं के लिए यह भावना तैयार की और उसकी नकल् कराकर उपरोक्त दोनों आत्मार्थी बन्धुओं को भी भेज दी। उन आत्मार्थियों ने उसका पूरा-पूरा लाभ लिया एवं इच्छा व्यक्त की कि इसको कैसेट में भरवाया जावे ताकि अस्वस्थ दशा में भी भावना जागृत रखने के लिए उपयोगी हो साथ ही प्रकाशित कराकर अन्य साधर्मी बन्धुओं को भी सुलभता से प्राप्त कराना चाहिए।

उपरोक्त सुझाव के अनुसार इरा भावना को और भी परिमार्जित कर कैसेटबद्ध भी करा दिया गया तथा यह पुस्तकाकार प्रकाशन भी आपके समक्ष प्रस्तुत है। इस भावना के कैसेट अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, ए-४ बापूनगर, जयपुर से प्राप्त किए जा सकते हैं।

यह भावना आत्मार्थी बन्धुओं को आत्म भावना जागृत करने में कारण बनें, मात्र इसी भावना से इसका प्रकाशन कराया जा रहा है, अन्य कोई उद्देश्य नहीं है।

मेरी आन्तरिक भावना है कि आत्मार्थी बन्धु इस भावना के निरन्तर चिन्तन-मनन द्वारा अपना आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ इतनी उग्रता से जागृत करें कि मृत्युकाल आने पर वह महोत्सव के रूप में परिवर्तित हो सके इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— नेमीचन्द पाटनी

***

आत्म सम्बोधनम्

(आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ जाग्रत करने की भावना)

हे आत्मन् ! तुझे यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है, इसको सार्थक बनाना ही एकमात्र तेरा उद्देश्य होना चाहिए।

चारों गतियों में भ्रमण करते-करते अनन्तानन्त जीवराशि में से अनन्तवां भाग यह मनुष्य भव वह प्राप्त किया उसकी दुर्लभता का विचार कर, उस मनुष्य राशि में भी जैन कुल, उसमें भी आत्म कल्याण की रुचि उत्पन्न होना, रुचि उत्पन्न होने पर भी सत्यार्थ मार्ग बताने वाले सत्पुरुषों का समागम मिलना, वह मिल जाने पर भी यथार्थ मार्ग समझने योग्य बुद्धि का होना, बाहर के संयोगों की अनुकूलता एवं शरीर की अनुकूलता आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ अवसर हैं। वे सब तेरे को प्राप्त हैं, इतना दुर्लभातिदुर्लभ अवसर प्राप्त हो जाने पर भी और अपनी आयु के अमूल्य क्षण बीत जाने पर भी अब बाकी क्या रह गया है? इस पर विचार तो कर? जैन शतक में लिखा भी है —

"सौ वरष आयु ताका लेखा करि देखा सब,
आधी तो अकारथ ही सोवत विहाय[१] रे॥
आधी में अनेक रोग बाल-वृद्ध दशा भोग,
और हूँ संयोग केते ऐसे बीत जांय रे॥
बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही,
कारज की बात यही नीकैं मन लाय रे॥"

और भी कहा है —

बालपनैं बाल रह्यो पीछे गृहभार बड़्यो,[२]
लोकलाज काज बांध्यौं पापन कौ ढ़ेर है॥
आपनौ अकाज कीनौं लोकन मैं जस लीनौं,
परभौ विसार[३] दीनौं विषैवश जेर है॥

---

१. बीत जाती हैं २. गृहभार को ढ़ोना ३. भूल गया

ऐसे हो गई विहाय[१] अल्प-सी रही आयु,
नर-परजाय यह आंधे की बटेर है॥
आये सेत भैया अब काल है अवैया[२] अहो,
जानी रे सयानै तेरे अजौं हूँ अंधेर है॥

हे आत्मन्! उपर्युक्त प्रकार से तू विचार तो कर कि तूने तेरी इस नर पर्याय के यौवनावस्था के अमूल्यकाल को तो व्यापारादि करने एवं भोगादि सेवन में खो दिया। अब इस वृद्धावस्था में भी तुझे अपने बचे-खुचे अमूल्य क्षणों का भी मूल्य ज्ञात नहीं हो रहा है? विचार तो कर; तेरे आत्मा के भविष्य का क्या होगा?

जैनशतक में कहा है कि —

जोई दिन कटे सोई आयु में अवश्य[३] घटै,
बूँद-बूँद बीतै जैसे, अंजुली कौ जल है।
देह नित छीन होत, नैन-तेज हीन होत,
जोवन मलीन होत, छीन होत बल है॥
आवै जरा नेरी[४] तकै अंतक-अहेरी,[५] आवै,
परभौ नजीक, जात नरभौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन पूँछत कुशल मेरी,
ऐसी दशा मांही मित्र, काहे की कुशल है॥

उपरोक्त प्रकार के चिन्तन के साथ अपने जीवन के बचे-खुचे अमूल्य क्षणों का मूल्यांकन करके, सांसारिक पारिवारिक, व्यापारिक, राजनैतिक अथवा संस्था आदि से सम्बन्धित चिन्ताओं से अपने आपको मुक्त करके एवं मानसिक विकल्पों को अत्यन्त हानिकारक मानते हुए, कमर कसकर तैयार होकर एकमात्र अपने आत्मा का हित कैसे हो, उस मार्ग को प्राप्त करने में पूर्ण पुरुषार्थ के साथ रुचि एवं भावनापूर्वक जुट जाना चाहिए।

---

१. निष्फल समाप्त हो गई
२. आने वाला है
३. अवश्य
४. बुढ़ापा नजदीक आ रहा है
५. अन्तिम घड़ी को देखता है।

यह ही एकमात्र कर्तव्य मानकर, सब तरफ फैली हुई रुचि को समेटकर एकमात्र स्व आत्मा की पहिचान करने में लगा देना चाहिए, संसार की स्थिति का स्पष्ट चित्र तो इस पद्य में बताया है।

चाहत है धन होय किसी विधि, तो सब काज सरैं जियराजी।
गेहचिनाय करुगहनांकछु ब्याह सुतासुत वांटिये भाजी॥
चिन्तित यों दिन जांहि चले, यम आन अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारि गये, रह जाय रुपी शतरंज की बाजी॥

इसीप्रकार की इच्छाओं में डूबा हुआ यह प्राणी अपना जीवन खो देता है।

आत्मा की पहिचान करने के लिए सर्वप्रथम ऐसा प्रश्न खड़ा करके अन्तर में खोजकर, कि "मैं कौन हूँ।" अनादिकाल से जिसको अभी तक "मैं" के रूप में मानता चला आ रहा हूँ, वह तो यह शरीर के रूप में दिखने वाला मात्र शरीराकार पुद्गलपिण्ड है। लेकिन इस शरीर को तो यहाँ ही जलाकर भस्म कर दिया जाता है। यह भी स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है कि जिस शक्ति के इस शरीर में से निकल जाने पर यह शरीर जलाने योग्य हो जाता है, वह एक ज्ञान शक्ति और उसका स्वामी आत्मा वह तो शाश्वत नित्य रहता है, यह तो स्पष्टरूप से अनुभव में आ रहा है।

इस शरीर को छोड़ने पर आत्मा तो अन्य शरीर धारण कर लेती है, लेकिन उसका नाश कभी भी नहीं होता। वह जो भी है वही तो "मैं आत्मा हूँ।" इसप्रकार स्पष्ट रूप से दिखने पर भी तू इस स्थिति को स्वीकार क्यों नहीं करता? रे आत्मन्! इस तथ्य को स्वीकार करने में कौन से ग्रन्थों को पढ़ना पड़ेगा? यह तो प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस पर और भी गंभीरता से विचार करें तो तुझे स्पष्ट होगा कि "मेरा तो वही हो सकता है जो कभी मेरे से अलग नहीं हो तथा मेरी

आज्ञानुसार प्रवर्तन करें।" इस सार्वभौमिक सिद्धान्त के अनुसार भी विचार कर तो तेरे को ज्ञात होगा कि यह शरीर तो मेरे से यहाँ ही अलग होता हुआ प्रत्यक्ष दिख रहा है वह मेरा कैसे हो सकता है तथा सारी जिन्दगी जिसके पालन-पोषण के लिए मैं अनेकानेक पापभाव करता रहा फिर भी यह मेरी एक भी आज्ञा पालन नहीं करता? रोग आने पर आज्ञा करता हूँ रोग चला जावे, लेकिन नहीं जाता, मोटा होने पर दुबला होने की आज्ञा करता हूँ तो कुछ नहीं होता, दुबला होने पर मोटा होना चाहता हूँ तो नहीं होता, सुन्दरता की चेष्टा करते हुए भी कुरूप हो जाता है, कुरूपता हटाने की चेष्टा करने पर भी कुछ भी नहीं हो पाता, आदि-आदि अनेक प्रसंगों पर विचार करने पर स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि यह शरीर मेरा नहीं होने के कारण ही मेरी आज्ञानुसार परिणमन नहीं करता, इन सब तथ्यों से स्पष्टत: विश्वास में आता है कि मैं तो इस शरीर से, जो कि जन्मकाल से मृत्युकाल तक आत्मा के साथ ही रहता है, उससे अत्यन्त भिन्न अस्तित्व रखने वाला एक स्वतंत्र आत्मा हूँ।

ऐसी स्थिति में ये कुटुम्बीजन स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई-बहिन आदि सम्पूर्ण परिवार एवं ये मकान जायदाद, मोटर, बंगला करोड़ों की सम्पत्ति आदि बाहर के संयोग शरीर से भी सभी प्रकार से स्पष्ट् रूप से भिन्न दिखने वाले मेरे कैसे हो सकते हैं। लोकलाज के नाम पर, संस्था के बहाने, धर्म के बहाने, दानादि द्वारा वर्तमान पर्याय में यश प्राप्त करने हेतु में दिनरात एक कर देता था, ये सभी कार्य मुझ आत्मा के कैसे हो सकते हैं? जब मेरी आत्मा का निकटतम संबंधी शरीर ही मेरे से भिन्न है तो ये सब तो शरीर से ही सम्बन्धित हैं, ये सब मेरे कैसे हो सकते हैं? किसी भी प्रकार मेरे नहीं हो सकते। ऐसा विचारते हुए हे आत्मन्! इन सबमें अपने पने की मान्यता को छोड़! छोड़ अवश्य छोड़!! क्योंकि तेरे एक क्षण का मूल्य करोड़ों से भी मापा नहीं जा सकता? कहा भी है कि —

काहू घर पुत्रजायो, काहू के वियोग आयौ,
कहूं रागरंग कहूं रोआरोई करी है।
जहां भान ऊगत उछाहगीत गान देखे,
सांझ समैं ताही थान हाय हाय परी है॥
ऐसी जगरीति को न देखि भयभीत होय,
हाहा नर मूढ़ तेरी मति कोंने हरी है।
मानुष जनम पाय, सोवत विहाय जाय,
खोवत करोरनि की एक एक धरी है॥

इसप्रकार विचार करके तुझे एक क्षण भी विलम्ब करने योग्य नहीं है। कदाचित् तुझे ऐसा प्रश्न हो? कि उपरोक्त अपनेपन की मान्यता छोड़ देने से मुझे क्या लाभ होगा? इसका समाधान स्पष्ट है कि सारे जगत का सामान्य नियम है कि "जिसको अपना मान लेता है, उस पर सर्वस्व समर्पण कर देता है और जिसको अपना नहीं मानता उसके लिए समर्पण तो दूर किन्चित मात्र चिन्ता भी नहीं करता।" इस सार्वभौमिक सिद्धान्त के अनुसार, हे आत्मन्! तू अभी तक शरीर को और शरीर के साथ ही सम्बन्ध रखने वाले कुटुम्ब परिवार स्त्री पुत्रादि तथा धन, मकान, जायदाद आदि तथा यश प्राप्ति के कार्यों को ही अपना मानता चला आ रहा है, इसी कारण तूने अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को इन ही के रक्षण, पोषण, वर्धन में बरबाद कर दिया है, मात्र बरबाद ही नहीं किया बल्कि अनेक प्रकार के पाप भावों के उपार्जन द्वारा अपने आत्मा का अहित करके भी इन्हीं के रक्षण, पोषण आदि में अपने आत्मा का अत्यन्त घात किया है। जैन शतक में कहा भी है —

दश दिन विषयविनोद, फेर बहु विपति परंपर[१]।
अशुचि गेह यह देह, नेह जानत न आप[२] जर॥

---

१. विपत्ति की परम्परा २. जड़

मित्र बन्धु-सम्बन्ध और, परिजन जे अंगी।
अरे अंध सब अन्य, जान स्वारथ के संगी॥
परहित अकाज अपनों न कर, मूढ़राज! अब समझ उर।
तजि लोकलाज निजकाज कर, आज[1] दांव है कहत गुर॥

इसप्रकार शरीरादि परद्रव्यों में अपनेपन की मान्यता द्वारा ही मैंने अभी तक अपनी आत्मा का बहुत-बहुत अहित किया है। अब मेरे को सद्बुद्धि जाग्रत हुई है। अत: मुझे सत् समागम आदि के द्वारा अपने स्वयं की आत्मा में अपनेपन की मान्यता पूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रगट कर ही लेना चाहिए। जैनशतक में कहा भी है —

जौ लौ देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी जौलौं,
जरा नाहिं नेरी[2] जासों पराधीन परिहै[3]॥
जौलौं जमनामा दैरी देय ना दमामा[4] जौलौं,
मानैं कान रामा[5] बुद्धि जाइना विगरि है॥
तौलौं मित्र मेरे निज कारज सँवार ले रे,
पौरुष थकैंगे फेर पीछै कहा करिहै।
अहो आग आयैं जब झोंपरी जरन लागी,
कुआ के खुदायें तब कौन काज सरिहै[6]॥

उपरोक्त प्रकार के चिन्तन द्वारा हे आत्मन्! तू जैसे भी बने उस प्रकार एक मात्र अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापन कर, शरीरादि समस्त परिकर से अपनेपन की मान्यता को छोड़कर, उनके कारण से होने वाली आकुलता आदि से सर्वथा निर्भार होकर अपने अन्दर में छुट्टी पा ले? तो तुझे शान्ति का मार्ग प्राप्त हो ही जाएगा, ऐसा निश्चिन्त होकर स्वीकार कर।

हे आत्मन्! तू तो ज्ञानस्वरूप है न? तू तो ज्ञान का ही भण्डार है न? तेरे जानने में तो कितना भी कैसा भी ज्ञेय आवे, सबको जान लेने

---

१. अवसर २. समीप ३. पराधीन हो जाना
४. डंका बजावे ५. स्त्री कहना माने ६. सिद्ध होगा

की तेरे में अपार शक्ति, सामर्थ्य है न? तेरे ज्ञान के अन्दर किसी का भी प्रवेश हुए बिना भी, तू तो उन सबसे दूर रहकर सबसे निर्लेप रहते हुए भी उनको परज्ञेय के रूप में जान लेता है, ऐसा तेरा अचिन्त्य सामर्थ्य है। इस शरीर की कैसी भी दशा हो, तू तो उससे भी अलग रहकर, मात्र जान लेने वाला ही तो है? उस दशा सम्बन्धी तेरे ज्ञान में जो ज्ञेयाकार बने हैं वे ज्ञेयाकार तेरी ही तो दशा है। यथार्थतः तू तो उन ज्ञेयाकारों को भी जानता हुआ उस ज्ञान क्रिया का स्वामी त्रिकाल एकरूप रहने वाला ज्ञायक परमात्मा है। अनादिकाल से अनेक भवों में शरीर की अनेक दशाएँ हो चुकीं हैं, उनका भी तू तो सदैव मात्र ज्ञाता ही रहा है, लेकिन आप ही अपने को भूलकर शरीर की अवस्था को अपनी दशा मानकर अनादि से दुःखी होता चला आ रहा है।

तेरी भूतकाल की दशाओं का चित्रण पण्डित भूधरदासजी ने वैराग्य भावना में निम्नप्रकार किया है —

इह संसार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवै।
जामन मरण जरा दव दाझै, जीव महादुःख पावै॥ ४॥
कबहुँ जाय नरक तिथि भुजै, छेदन भेदन भारी।
कबहूँ पशु परजाय धरै तहँ, बध बन्धन भयकारी॥
सुरगति में परसम्पत्ति देखे, राग उदय दुःख होई॥५॥

कभी मनुष्य पर्याय भी प्राप्त हो गई तो क्या हुआ?

कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी।
कोई दीन दरिद्री विगूचे, कोई तन के रोगी॥
किस ही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई।
किस ही के दुःख बाहिर दीखै, किस ही उर दुचिताई॥ ६॥
कोई पुत्र बिना नित झूरै, होई मरै तब रोवै।
खोटी संतति सौं दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवे॥

पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुख साता।
यह जगवास जथारथ देखे, सब ही है दुःखदाता॥ ७॥
जो संसार विषै सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागे।
काहे को शिव साधन करते, संजमसों अनुरागै॥

अब इस संसार की अवस्था कैसी है? इस पर भी जरा विचार कर?

देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई।
सागर के जल सौं शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई॥ ८॥
सप्त कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सौहे।
अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है॥
नव मल द्वार बहें निशिवासर, नाम लिये घिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहं, कौन सुधी सुख पावै॥ ९॥

अब विषय भोगों की स्थिति भी विचार करने योग्य है—

भोग बुरे भवरोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जीके।
बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागै नीके॥
वज्र अगनि विष से विषधर से, ये अधिके दुःखदाई।
धर्म रतन के चोर प्रबल अति, दुर्गति पंथ सहाई॥ ११॥
मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भलै कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानैं॥
ज्यों-ज्यों भोग संजोग मनोहर, मन वांछित जब पावै।
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंकै, लहर जहर की आवै॥ १२॥

हे आत्मन्! उपरोक्त सभी दशाएँ तेरे को अनादिकाल से निरन्तर होती चली आ रहीं हैं और सभी तेरे ज्ञान के जानने में आती रहीं हैं, उन सब दशाओं को तू अभी तक निरन्तर अपनी मानता चला आ रहा है, इसी कारण अनादिकाल से दुःखी-दुःखी ही बना हुआ है, अब तो इस मान्यता को छोड़ और अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा को इस शरीर एवं इसकी क्रिया एवं अन्य सबको परज्ञेय के रूप में मानता हुआ ज्ञाता मात्र मानकर

इन ज्ञेयों की क्रिया से भिन्न, ज्ञायक परमात्मा मानकर निर्भार हो जा। हे आत्मन्! तू तो अक्रियबिम्ब के समान हर समय एक रूप बने रहने वाला अरिहन्त की आत्मा के जैसा ही त्रिकाली सत् है न? तेरे असंख्य प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली ये पर्यायें, जो प्रत्येक समय नवीन-नवीन रूपों को लेकर उत्पन्न होती हैं, वे तेरे त्रिकाली सत् से भिन्न ही हैं, वे भी अपने-अपने समय की सत् हैं। जिस तरह तेरे त्रिकाली सत् को ये पर्यायें किञ्चित भी हानि नहीं कर पाती, उसीप्रकार तू भी उस पर्याय में किञ्चित मात्र भी कुछ भी नहीं कर सकता। तू त्रिकाली सत् है तो वे भी अपने समय की सत् हैं। सत् का नाश कोई भी कैसे कर सकेगा? जब कोई नाश नहीं कर सकता तो परिवर्तन भी कैसे करेगा? अतः उन पर्यायों को भी परिवर्तन करने की बुद्धि छोड़ और उनसे अत्यन्त उपेक्षित रहकर उन पर्यायों के उत्पाद और विनाश का भी साक्षी बना रह तेरा ज्ञायक परमात्मा त्रिकाली सत् तो अकर्ता अभोक्तास्वभावी है, तेरे ज्ञान में कितने भी कैसे भी ज्ञेय आवे, पर्यायों की कैसी भी उछल कूद तेरे ज्ञान में आवे, लेकिन वे सब तेरे अक्रियबिम्ब त्रिकालीसत् को किञ्चितमात्र भी बाधा पहुँचा सकती नहीं, वे स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं, तू तो उन सबका उपेक्षित साक्षी मात्र रहते हुए अनाकुलित स्वभावी, उन सबसे अछूता बना रह।

परज्ञेयों को अपना मानने के कारण अच्छे लगने वाले ज्ञेयों के प्रति राग एवं प्रतिकूल लगने वाले ज्ञेयों के प्रति द्वेष उत्पन्न करके रागी द्वेषी होता हुआ अत्यन्त आकुलित बना रहता है। यथार्थ स्थिति तो यह है कि इन राग-द्वेषादि भावों का कर्ता तो तू है ही नहीं वरन् सचमुच इनका तो तू ज्ञायक है ऐसा भी उपचार से कहा गया है। तू तो अपनी ही ज्ञान पर्याय का ज्ञायक है तेरी स्वयं की ज्ञान पर्याय जो रागादि के आकार भी अपनी योग्यता से परिणमी है वास्तव में तो तू उस ज्ञेयाकार पर्याय का ही ज्ञायक है। ये रागादि तो उस ज्ञेयाकार ज्ञान पर्याय के मात्र निमित्त हैं अतः रागादि से तो वास्तव में तेरा को ई सम्बन्ध ही नहीं रहता। ये राग-द्वेषादि भाव भी तेरे ज्ञान के जानने में आ रहे हैं, अतः ये तो तेरे ज्ञेयाकार

ज्ञान के लिए निमित्त ही तो हैं? इनका भी तो तू ज्ञाता ही है? इस कारण तू इनसे भी भिन्न रहकर इनको भी परज्ञेय के निमित्त के रूप में जानने वाला ही है व भूतकाल में भी ज्ञाता ही रहा था। यह तो स्पष्ट है कि ज्ञेय के निमित्त तो सदाकाल ज्ञान से भिन्न ही रहते हैं, अतः मुझ त्रिकाल एकरूप रहनेवाले ज्ञाता प्रभु भगवान आत्मा से ये रागादिभाव तो भिन्न ही हैं। मैं तो ध्रुवतत्त्व भगवान अरहन्त की आत्मा के समान ही त्रिकाल हूँ। जिसप्रकार उनके ज्ञान में कितने भी ज्ञेय कैसे भी आवें उनके आने पर भी वे अपने स्वभाव में निश्चल रहते हैं, उसीप्रकार, मैं भी इन ज्ञेयों के प्रति उपेक्षित होकर रहूँ, तो श्रद्धा अपेक्षा मैं स्वयं भी वर्तमान में अरहन्त ही हूँ। पण्डित दौलतरामजी ने कहा भी है —

सकलज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन,
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन।

उपरोक्त प्रकार चिन्तन के द्वारा, हे आत्मन्! तू अपने को अत्यन्त निर्भार बनाकर शांतमय जीवन प्रारम्भ कर। हे आत्मन् तू विचार तो कर, तेरा आत्मा किसी का कुछ भी करने धरने का विचार करे तो भी किसी का कुछ भी कर तो सकता ही नहीं है तथा होता भी नहीं है, फिर तेरी चिन्ता तो निष्फल ही गई न? अतः चिन्ता छोड़कर निश्चिन्त होकर जीने में ही सार्थकता है। भूतकाल में भी ऐसे महान आत्मा कितने ही हो गये हैं, जिनको बाहर की अनेक प्रतिकूलताएँ उपस्थित हो जाने पर भी वे उन सबसे अत्यन्त उपेक्षित होकर रहे, तो उन्होंने संसार का ही अभाव कर अजर-अमर पद की प्राप्ति कर ली। इस ही विषय का स्पष्ट चित्रण कविवर सूरचन्द्रजी ने समाधिमरण पाठ में निम्नप्रकार किया है। इसको आधार बनाकर चिन्तन करने से तुझे भी सभी प्रकार के ज्ञेयों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा भाव जागृत होगा, फलस्वरूप इस देह से छूटने का अवसर आने पर भी तू अपने आत्मा में ही निश्चल होकर रहते हुए शरीर को छोड़ सकेगा।

समाधिमरण पाठ के कतिपय छन्द इसप्रकार हैं इनमें कहा गया है कि हे आत्मन्! तूने अनेक भवों में अनेक अवस्थाएँ धारण की लेकिन एक सम्यक्त्व ही प्राप्त नहीं किया? —

भव-भव में तन धार नये मैं, भव-भव शुभ संग पायो।
भव-भव में नृप रिद्धि लई मैं, मात पिता सुत थायो॥
भव-भव में तन पुरुष-तनों धर, नारी हूँ तन लीनो।
भव-भव में मैं भयो नपुंसक, आतमगुण नहीं चीनों॥ २॥

भव-भव में सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव-भव में गति नरकतनी धर, दुःख पाये विधि योगे॥
भव-भव में तिर्यंच योनिधर, पायो दुःख अति भारी।
भव-भव में साधर्मीजन को, संग मिल्यो हितकारी॥ ३॥

भव-भव में जिनपूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।
भव-भव में मैं समवशरण में, देख्यों जिनगुण चीनो॥
ऐती वस्तु मिली भव भव में, सम्यक्गुण नहिं पायो।
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातें जग भरमायो॥ ४॥

हे आत्मन्! तूने अनेक भवों में उपरोक्त सभी अवसर अनेक बार प्राप्त किए लेकिन अपनी आत्मा को भूलकर परज्ञेयों में अपनापन मानना नहीं छोड़ा उसके कारण एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया। वह प्राप्त नहीं होने से तुझे क्या-क्या प्राप्त हुआ, वह कहते हैं —

काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहिं कीनो।
एक बार हूँ सम्यक्युत मैं, निज आतम नहिं चीनो॥
जो निज पर को ज्ञान होय तो, मरण समय दुःख कांई।
देह विनासी मैं निजभासी, जोतिस्वरूप सदाई॥ ५॥

विषय कषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो।
कर मिथ्या सरधान हियेविच, आतम नाहिं पिछान्यो॥

यों कलेश हियधार मरणकर, चारों गति भरमायो।
सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदे में नहिं लायो॥ ६॥

अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय यह मांगो।
रोगजनित पीड़ा मत होवो, अरु कषाय मत जागो॥
ये मुझ मरणसमय दुःखदाता, इन हर साता कीजै।
जो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्यामद छीजै॥ ७॥

उपरोक्त कथन सुनकर अगर तुझे ऐसा विकल्प उठे कि उपरोक्त विषय तो मृत्युकाल सन्निकट आने पर भावना करने योग्य है, वह अभी क्यों? रे आत्मन् ! ऐसा विचार तो कर कि तेरा मृत्युकाल निश्चित कहाँ है? अभी चिन्तन करते-करते ही तेरे शरीर का वियोग नहीं होगा, ऐसा क्या तू विश्वासपूर्वक कह सकता है? साथ ही जब तेरा मृत्युकाल आवेगा, उस समय तेरी स्थिति सुनने योग्य भी रहेगी अथवा नहीं, सुनने योग्य दशा भी रही तो भी इस पर विचार कर अपना पुरुषार्थ जागृत करने की दशा रह सके यह तो अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए इसी समय मृत्युकाल आया जानकर, अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य ज्ञेय मात्र से अपनेपन का संबंध अभी विच्छेद करके निर्भार होकर आदर्श जीवन प्रारम्भ कर।

हे आत्मन्! तू विचार तो कर कि युद्धक्षेत्र में सफलता प्राप्त करने वाले योद्धा, युद्ध क्षेत्र में जाने के पूर्व ही युद्ध करने की कुशलता का कितना सघन अभ्यास करते हैं? और ऐसे अभ्यास करने वाले योद्धा ही अवसर आने पर सफलता प्राप्त कर पाते हैं। उसीप्रकार तू भी इस शरीर से संबंध छूटने का अवसर आने के पूर्व ही उग्र पुरुषार्थ के द्वारा इस शरीर के एवं शरीर से सम्बन्धित सभी परिकर तथा ज्ञेयमात्र से इतना उपेक्षित हो जा, कि किसी भी समय मरण काल आ जावे, और उस समय तेरी कैसी भी स्थिति बन पड़े, अचेत अवस्था भी हो जावे तो भी तेरी परिणति, आत्मा से किञ्चित मात्र भी विचलित नहीं हो और अकर्त्ता एवं

ज्ञाता स्वभावी आत्मा में ही अपनापना बना रहे तथा ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षाबुद्धि बनी रहे। ऐसा पुरुषार्थ अभी से प्रारम्भ कर देना ही मृत्यु को महोत्सव बना सकेगा। मृत्यु तो तेरा मित्र है, वह तुझे इस जर्जर शरीर से छुड़ा उत्तम गति तथा नवीन शरीर प्राप्त करा देगा, इस पर भी विचार तो कर?

यह तन सात कुघातमई है, देखत ही घिन आवै।
चर्म लपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्टा पावै॥
अति दुर्गन्ध अपावनसों यह, मूरख प्रीति बढ़ावै।
देह निवासी, जिय अविनासी नित्य स्वरूप कहावै॥ ८॥

यह तन जीर्ण कुटीसम आतम, यातैं प्रीति न कीजै।
नूतन महल मिले जब भाई, तब यामैं क्या छीजै॥
मृत्यु होन से हानि कौन है, याको भय मत लावो।
समता से जो देह तजोगे, तो शुभतन तुम पावो॥ ९॥

मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के मांही।
जीरन तन से देत नयो यह, या सम साहू नांही॥
या सेती इस मृत्यु समयपर, उत्सव अति ही कीजै।
क्लेशभाव को त्याग सयाने, समताभाव धरीजै॥ १०॥

जो तुम पूरव पुण्य किए हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग सम्पदा भाई॥

इस जीर्ण शरीर के वियोग के काल में तो हर्ष मनाना चाहिए। हे आत्मन्! तू दुःखी क्यों होता है?

राग रोष को छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई।
अन्त समय में समता धारो, परभव पन्थ सहाई॥ ११॥
कर्म महादुठ बैरी मेरो, तासेती दुःख पावै।
तन पिंजर में बन्द कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावै॥

भूख तृषा दुःख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दया कर, तन पिंजरसों काढ़े।। १२ ।।

नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तन को पहराये।
गन्ध सुगन्धित अतर लगाये, षटरस असन कराये।।
रात दिना मैं दास होय कर, सेव करी तन केरी।
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी।। १३ ।।

रे आत्मन्! उपरोक्त बातों पर विचार कर और जिस शरीरादि को अपना मानकर दुखी होता रहा अब छूटने के समय तो उत्सव मनाने का अवसर है। क्योंकि इसमें अपनापन छोड़कर अगर तुमने देह छोड़ा तो हे आत्मन्! तुझे आत्म शान्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होने का अमूल्य अवसर प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा, और भविष्य के भव में निश्चित रूप से तेरी साधना की पूर्ति होगी, ऐसा विश्वास में ला।

मृत्युराज को शरन पाय तन, नूतन ऐसो पाऊँ।
जामें सम्यक्रतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊँ।।
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जगमाहीं।
मृत्यु समय में ये ही परिजन, सबही हैं दुखदाई।। १४ ।।

यह सब मोह बढ़ावन हारे, जिय को दुर्गतिदाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता।।
मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने, मांगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो, तो पावों सम्पति तेती।। १५ ।।

चौ आराधन सहित प्राण तज, तौ ये पदवी पावो।
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्ग मुकति में जावो।।
मृत्यु कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मंझारे।
ताको पाय क्लेश करो मत, जन्म जवाहर हारे।। १६ ।।

हे आत्मन् ! मृत्युकाल के समय अगर तेरे शरीर में भयानक रोग हो जावे तो तू निम्न पद्य के अनुसार विचार करते हुए, अपने आत्मा में सावधान रहना, विचलित नहीं होना —

आयो है अचानक भयानक असाता कर्म,
ताके दूरि केरिवेकों बली कौन है रे?
जे जे मन भाये ते कमाये पूर्व पाप आप,
तेई अब आये निज उदय काल लहरे।
अेरे मेरे वीर काहे होत है अधीर,
या में कोऊ को न सीर, तूं अकेलो ही आप सहरे।
भये दिलगीर कछु पीर न विनसि जाय,
याही तैं सयाने तू तमासगीर रह रे॥

आगे इस शरीर के बारे में और कहते हैं —

इस तन में क्या राचै जियरा, दिन-दिन जीरन हो है।
तेज कान्ति बल नित्य घटत हैं, या सम अथिर सु को है॥
पांचों इन्द्रिय शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहिं आवै।
तापर भी ममता नहिं छोड़े, समता उर नहिं लावै॥ १७॥

मृत्युराज उपकारी जिय को तनसों तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृह में पर्यो पर्यो बिललावै॥
पुद्गल के परमाणु मिलकें, पिण्डरूप तन भासी।
यो ही मूरत मैं अमूरती ज्ञान ज्योति गुणखासी॥ १८॥

हे आत्मन् रोग शोकादि तो सब इस शरीर को होते हैं, मेरा तो ज्ञान ही शरीर है, मेरे ज्ञान को तो ये रोगादि छूते भी नहीं हैं। अपने अकर्तास्वभावी आत्मा की श्रद्धा द्वारा इनकी भिन्नता भेदज्ञान के द्वारा इसकी उपेक्षापूर्वक अपने में समता भाव जाग्रत कर, तो तेरे को शान्ति का प्रारम्भ हो जावेगा।

रोग-शोक आदिक जो वेदन ते सब पुद्गललारैं।
मैं तो चेतन व्याधि बिना नित हैं सो भाव हमारे॥
या तन सों इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बन्यो है।
खान पान दे याको पोष्यो अब सम भाव ठन्यो है॥ १९॥

मिथ्यादर्शन आत्मज्ञान बिन यह तन अपनो जान्यो।
इन्द्री भोग गिने सुख मैंने आपों नाहिं पिछान्यो॥
तन विनशनतैं नाश जानि निज यह अयान दुखदाई।
कुटुम आदि को अपनो जान्यो, भूल अनादि छाई॥ २०॥

अब निज भेद जथारथ समझ्यो, मैं हूँ ज्योति स्वरूपी।
उपजैं विनसैं सो यह पुद्गल, जान्यो ताको रूपी॥
इष्ट अनिष्ट जेते सुख-दुःख हैं, सो सब पुद्गल सागे।
मैं जब अपनो रूप विचारो तब वे सब दुःख भागै॥ २१॥

इसप्रकार शरीर की स्थिति का विचार करते हुए समता धारण करना ही तेरा कर्तव्य है —

बिन समता तन नन्त धरे मैं तिनमें ये दुःख पायो।
शस्त्रघाततैं नन्त बार मर नाना योनि भ्रमायो॥
बार अनन्तहिं अग्नि माहिं जर मूवो सुमति न लायो।
सिंह व्याघ्र अहि नन्त बार मुझ नाना दुःख दिखायो॥ २२॥

बिन समाधि ये दुःख लहे मैं अब उर समता आई।
मृत्युराज को भय नहिं मानो देवै तन सुखदाई॥
यातैं जब लग मृत्यु न आवै तब लग जप तप कीजै।
जप तप बिन इस जग के माहिं कोई भी ना सीजै॥ २३॥

हे आत्मन्! जितना, जो कुछ भी तुझे दीखता है, वह सब पर है और पर पदार्थ तो पर भव में तेरे साथ कभी जाते नहीं लेकिन शान्ति

और समाधि आदि पर भव में भी तेरे साथ जावेंगे, अतः समस्त परज्ञेयों की उपेक्षा कर, समाधि धारण कर। उपरोक्त चिन्तन के द्वारा ऐसा पुरुषार्थ प्रगट कर और कमर कसकर तैयार रह कि अगर इसी समय भी मेरा मृत्युकाल आ जावे अथवा लाखों वर्षों तक जीवित रहूँ तो भी मेरे ज्ञाता स्वभावी भगवान आत्मा में मेरापन जाग्रत बना रहे और अन्य सभी ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षा भाव ही बना रहे ताकि मेरा साम्यभाव स्खलित न हो।

अब मैं जानी समता बिन मुझ कोऊ नाहीं सहाई।
मात पिता सुत बांधव तिरिया ये सब हैं दुःखदाई॥ २४॥

मृत्यु समय में मोह करें, ये तातैं आरत हो है।
आरत तैं गति नीची पावै, यों लख मोह तज्यो है॥
और परिग्रह जेते जग में, तिनसों प्रीति न कीजे।
परभव में ये संग न चालैं, नाहक आरत कीजै॥ २५॥

जे जे वस्तु लखत हैं ते पर तिनसों नेह निवारो।
परगति में ये साथ न चालैं, ऐसो भाव विचारो।
जो परभव में संग चलैं तुझ, तिनसों प्रीत सु कीजै।
पंच पाप तज समता धारो, दान चार विध दीजै॥ २६॥

जो भी वस्तु पर है, उनमें प्रीति करने मात्र से अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, उससे तेरे को अशुभ गति प्राप्त होगी अतः अशुभ भाव छोड़ कर कम से कम शुभभाव तो रख।

दशलक्षणमय धर्म धरो उर, अनुकम्पा उर लावो।
षोडसकारण नित्य विचारौ, द्वादश भावन भावो॥
चारों परवी प्रोषध कीजै, असन रात को त्यागो।
समता धर दुरभाव निवारो, संयमसों अनुरागो॥ २७॥

अन्त समय में यह शुभभावहिं, होवे आनि सहाई।
स्वर्ग मोक्ष फल तोहि दिखावैं, ऋद्धि देहि अधिकाई॥
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उर में समता लाके।
जासेती गति चार दूर कर, बसहु मोक्षपुर जाके॥ २८॥

हे आत्मन् पर भव में साथ जाने वाले भावों को धारण करते हुए जिन आत्माओं ने देह को छोड़ा है, उनने आगामी भव में ऐसी पर्याय प्राप्त की, जिसके द्वारा वे परमगति को प्राप्त हुई। अतः तू भी समस्त ज्ञेयों के प्रति उपेक्षा भाव जाग्रत करके अपनी वृत्ति को आत्मसन्मुख कर, जिससे तुझे भी स्थायी शान्ति प्राप्त होगीं। इसप्रकार के भाव धारण करने से जिन महान आत्माओं ने परम शान्ति प्राप्त की, उनके उदाहरणों को सुनकर अपने पुरुषार्थ को जाग्रत कर उग्र करो।

मनथिरता करकै तुम चिन्तौ, चौ आराधन भाई।
ये ही तोकों सुख की दाता, और हितु कोउ नाहीं॥
आगैं बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी।
बहु उपसर्ग सहे शुध भावन आराधन उरधारी॥ २९॥

तिनमें कछु इक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाकै।
भाव सहित अनुमोदे तासों, दुर्गति होय न ताकैं॥
अरु समता निज उर में आवै, भाव अधीरज जावै।
यों निशदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये बिच लावै॥ ३०॥

धन्य धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी।
एक श्यालनी जुग बच्चाजुत, पांव भख्यो दुःखकारी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ३१॥

ऐसे मुनिराजों की जीवन घटनाओं के स्मरण द्वारा अपने पुरुषार्थ को जाग्रत रख।

धन्य धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो।
तो भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं आतम सो चित लायो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ३१॥

देखो गज मुनि के शिर ऊपर, विप्र अगनि बहु बारी।
शीश जलै जिम लकड़ी तिनको, तौ भी नाहिं चिगारी॥
सनतकुमार मुनी के तन में, कुष्ट वेदना व्यापी।
छिन्न भिन्न तन तासों हूवो, तब चिन्त्यो गुण आपी।
श्रेणिकसुत गंगा में डूब्यो, तब जिननाम चितारयो।
धर सलेखना परिग्रह छोड़यो, शुद्धभाव उर धारयो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ३१॥

हे आत्मन्! उपरोक्त मुनिराजों के उदाहरणों को सुनकर तेरा पुरुषार्थ तीव्रतापूर्वक जाग्रत होना चाहिए। शरीर तो आत्मा से भिन्न है? ऐसी स्थिति में पर के सन्मुख उपयोग का रहना तो निरर्थक ही होगा, ऐसी श्रद्धा जाग्रत होने से उन मुनिराजों का उपयोग आत्मा में एकाग्र हो जाने से वे उपसर्ग उनका कैसे कुछ बिगाड़ सकते थे? कुछ बिगाड़ नहीं सके। और भी सुनो —

समंतभद्र मुनिवर के तन में क्षुधा वेदना आई।
ता दुःख में मुनि नेक न डिगियो चिन्त्यो निज गुण भाई॥ ३६॥

ललित घटादिक तीस दोय मुनि कौशाम्बी तट जानो।
नदी में मुनि बहकर मूवे सो दुःख उन नाहिं मानो॥ ३७॥

धर्म घोष मुनि चम्पानगरी बाह्य ध्यान धर ठाड़ो।
एक मास की कर मर्यादा तृषा दुःख सह गाढ़ो॥

यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ३१॥

ऐसे उपसर्ग विजयी मुनिराजों की आत्मस्थिरता की उग्रता के आदर्श को सामने रखकर अपने मृत्युकाल को महोत्सव के रूप में परिवर्तित कर लेना चाहिए।

श्रीदत्त मुनि पूर्वजन्म को वैरी देव सु आके।
विक्रिय कर दुःख शीततनो सो, सह्यो साधु मन लाके॥ ३९॥

वृषभसेन मुनि उष्ण शिलापर, ध्यान धर्‌यो मन लाई।
सूर्यघाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सहि अधिकाई॥ ४०॥

अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महावेदना पाई।
वेरी चण्डने सब तन छेद्‌यो, दुख दीनो अधिकाई॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ३१॥

हे आत्मन्! ऐसे मुनिराजों के उदाहरणों को सुनकर तेरे को तेरे अन्दर इतनी उग्रता जाग्रत होनी चाहिए कि मेरे को किसी भी समय मृत्यु आ जावे तो भी मैं तो जाग्रत ही हूँ, क्योंकि मेरा तो कभी किसी भी प्रकार से मरण हो सकता ही नहीं है और जिसका वियोग हो रहा है, वह मैं नहीं हूँ। ऐसे भाव निरन्तर जाग्रत रहना चाहिए। हे आत्मन्! तू ऐसा मानकर पुरुषार्थ को ढीला नहीं करना कि ऐसी भावना अर्थात् मृत्यु महोत्सव पाठ तो मृत्युकाल में सुनने के लिए है? अरे आत्मा! तेरी मृत्यु का काल निश्चित कहाँ है? एक क्षण का भी तो पता नहीं है, किस समय यह नश्वर देह छूट जावेगी? ऐसी स्थिति पर विचार करके वर्तमान के इस क्षण से ही अपनी शरीर के प्रति एकत्व बुद्धि को छोड़कर, आत्मा में सावधान रहने के लिए अपने पुरुषार्थ को लगा दे। ऐसी तैयारी रख कि चाहे लाखों वर्षों तक जिन्दा भी रहूँ अथवा एक क्षण बाद ही मृत्यु आ जावे तो भी मैं तो शरीर से ममत्व तोड़कर अत्यन्त जाग्रत बना रहूँ।

विद्युतचरने बहु दुःख पायो, तो भी धीर न त्यागी।
शुभभावनसों प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ४२॥

पुत्रचिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन धाता।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण राता॥ ४३॥

दण्डकनामा मुनि की देही, बानों कर अरि भेदी।
तापर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी॥ ४४॥

अभिनन्दन मुनि आदि पांचसौ, घानी पेल जु मारे।
तो भी श्रीमुनि समताधारी, पूरब कर्म विचारे॥ ४५॥

हे आत्मन्! मृत्युकाल में तेरे शरीर में किञ्चित भी ऐसी वेदना आवे तो तू आत्मा से चलित होकर, शरीर के रक्षण के भावों में एकाकार नहीं होना, ऐसी स्थिति आने पर उपसर्गजयी महा मुनिराजों को स्मरण कर अपने आत्मा को अपने में ही पुनः स्थापन करके विचलित मत होने देना।

चाणकमुनि गौधर के माहीं, मूंद अगनि पर जाल्यो।
श्रीगुरु उर समभाव धारकै, अपना रूप सम्हाल्यो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ४६॥

सात शतक मुनिवर दुःख पायो, हथनापुर में जानो।
बलिब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो॥ ४७॥

लोहमयी आभूषण गढके, ताते कर पहराये।
पांचों पाण्डव मुनि के तन में, तो भी नाहिं चिगाये॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी॥ ४८॥

हे आत्मन्! उपरोक्त अनेकानेक महापुरुषों ने इस शरीर के प्रति ममत्व छोड़कर, ऐसा विचार किया कि उपरोक्त उपसर्ग आदि अवस्थाएँ जिसके ऊपर हो रहीं हैं, वह तो मैं हूँ ही नहीं, मेरे ऊपर तो कोई उपसर्ग हो ही नहीं सकता? मैं तो इन उपसर्ग आदि से अत्यन्त दूर, उनका उपेक्षणीय परज्ञेय के रूप में उपचार से मात्र ज्ञाता रहते हुए, परम निराकुल शान्ति का भण्डार हूँ। अतः उनके प्रति अत्यन्त उपेक्षित रहकर, अपने उपयोग की दिशा आत्म सन्मुख की तो सबने परम शान्ति प्राप्त कर ली। इसी तरह तुझे भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए अपनी रुचि को सब ओर से समेटकर एकमात्र आत्मलक्ष्यी बना ही लेना चाहिए, यही एकमात्र कर्तव्य है। इसी का समर्थन करते हुए उक्त पाठ में और भी कहा है —

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, ये आराधान चारों।
ये ही मोको सुखकी दाता, इन्हें सदा उर धारो॥ ४९॥

यों समाधि उर माहीं लावो, अपनो हित जो चाहो।
तज ममता अरु आठों, मद को- जोतिस्वरूपी ध्यावो॥
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामांतर के काजै।
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ के कारण साजै॥ ५०॥

मातपितादिक सर्वकुटुम सब, नीकै शकुन बनावै।
हलदी धनिया पुंगी अक्षत, दूध दही फल लावै॥
एक ग्राम जाने के कारण, करैं शुभाशुभ सारे।
जब परगति को करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे॥ ५१॥

सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागै, तो हि रुलावैं सारे।
ये अपशकुन करैं सुन तोकों, तू यों क्यों न विचारे॥
अब परगति को चालत बिरियाँ, धर्मध्यान उर आनो।
चारों आराधन आराधो, मोहतनो दुःख हानो॥ ५२॥

होय निःशल्य तज्यो सब दुविधा, आतम राम सु ध्यावो।
जब पर गति को करहु पयानो, परम तत्त्व उर लावो॥
मोहजाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो।
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, यों निश्चय उर धारो॥५३॥

उपरोक्त चिन्तन के द्वारा समस्त परिकर के साथ मोह-ममता छोड़कर एकमात्र अपने निजात्मा में ही अपनापन स्थापन कर इसही ओर अपनी परिणति को एकाग्र रखकर समस्त पर एवं पर परणति से उपेक्षित बने रहने का अभ्यास कर, तो जब कभी भी इस शरीर के वियोग होने का समय आवेगा उस समय, तू अचेत अवस्था में भी पड़ा होगा तो भी तेरा पुरुषार्थ आत्मलक्ष्यी होकर अंतरंग में गतिशील बना रहेगा।

हे आत्मन्! तू विचार तो कर कि युद्धक्षेत्र में सफलता प्राप्त करने वाले योद्धा, युद्ध क्षेत्र में जाने के पूर्व ही युद्ध करने की कुशलता का कितना सघन अभ्यास करते हैं? और ऐसे अभ्यास करने वाले योद्धा ही अवसर आने पर सफलता प्राप्त कर पाते हैं। उसीप्रकार तू भी इस शरीर से संबंध छूटने का अवसर आने के पूर्व ही उग्र पुरुषार्थ के द्वारा इस शरीर के एवं शरीर से सम्बन्धित सभी परिकर के साथ इतना उपेक्षित हो जा कि किसी भी समय मरण काल आ जावे और मरण काल में कैसी भी स्थिति बन जावे तो भी तेरी परिणति आत्मा से किञ्चितमात्र भी विचलित नहीं हो और मेरे ज्ञानस्वरूपी आत्मा में ही मेरा अपनापना बना रहे, समस्त पर के प्रति उपेक्षाबुद्धि बनी रहे यही मेरी अन्तिम कामना है और यह पूर्ण सार्थक हो यही एकमात्र भावना है।

हे प्रभो! आपकी भक्ति का एवं जिनवाणी माता तेरे अध्ययन के प्रताप से मेरी उपरोक्त भावना सफल हो यही एक प्रार्थना है।

***

वैराग्य प्रेरक शिक्षा

श्री पण्डित भागचन्दजी का मननीय पद —

जीव तू तो भ्रमत सदैव अकेला, संग साथी नहिं कोई तेरा ॥ टेक ॥
अपना सुख दुख आपहि भुगते, होत कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भयैं सब बिछरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला ॥१ ॥
जीव तूं .....।

कविवर पण्डित भागचन्दजी इस पद के द्वारा जीव (आत्मा) को समझा रहे हैं कि हे आत्मन् ! तू तो अनादि काल हमेशा से अकेला ही भ्रमण करता रहता है, उस परिभ्रमण में किसी ने कभी किसीप्रकार से भी तेरा साथ नहीं दिया। तुझे अकेले को ही परिभ्रमण करना पड़ा है।

हे आत्मन् ! तेरा सुख-दुःख तो तेरे को अकेले ही भोगना पड़ता है, इसको कोई भी कुटुम्बीजन नहीं बाँटता। स्वार्थ पूरा होने पर सब बिछुड़ जाते हैं, जिसप्रकार कोई मेला विघट जाता है। इसलिए तू तो हमेशा अलग ही रहा है।

आगे कहते हैं —

रक्षक कोई न पूरन हुवे जब, आयु अन्त की बेला।
फटत पारिबंधत नहिं जैसे, दुर्धर जल की ठेला ॥ जीव तूं ॥ २ ॥

हे आत्मन् ! जब तेरी आयु के अन्त होने का काल आवेगा तब कोई भी तेरे को बचा नहीं सकता। बड़े से बड़ा डॉक्टर अथवा अन्य कोई भी तेरे को शरण नहीं दे सकता। जैसे नदी के बांध की दीवार टूट जाने पर जो जल का प्रवाह आता है, उसको कोई दीवार बांधकर अथवा कोई भी प्रकार से रोकना चाहे तो रोका नहीं जा सकता। इसलिए हे आत्मा किसकी शरण ढूढ़ता है। तुझे तो अकेले ही जाना पड़ेगा।

तन धन जीवन विनशि जात ज्यों, इन्द्रजाल की खेला।
भागचन्द इमि लख करि भाई हो सद्गुरु का चेला ॥ जीव तू ॥३ ॥

हे आत्मन ! इन्द्रजाल अर्थात् बादलों के समूहों के विविध आकारों के बने हुए अनेक खेल जो वायु का एक झकोरा आते ही नष्ट हो जाते हैं, उसीप्रकार यह तेरा शरीर आदि समस्त परिवार, धन, जायदाद आदि समस्त वैभव तथा जीवन आदि सब ही एक क्षण में नाश हो जावेंगे। इसलिए पण्डित भागचन्दजी कहते हैं कि हे भाई उपरोक्त सारी स्थिति देखकर, तू तो एक अपने आत्मा रूपी परमगुरु की शरण ग्रहण कर। अर्थात् उसी रूप अपना अस्तित्व स्वीकार कर उसी में लीन हो जा। यही एकमात्र शरणभूत है। तू तो सभी दशा में अकेला ही रहता है एवं भ्रमण भी अकेला ही करता है।

कविवर पण्डित दौलतरामजी महत्वपूर्ण शिक्षा देते हैं —

ज्ञानी जीव निवार भरमतम, वस्तु स्वरूप विचारत ऐसे ॥ टेक ॥

अर्थ — ज्ञानी जीव भ्रमबुद्धि अर्थात् मिथ्या मान्यतारूपी महाअंधकार को छोड़कर वस्तु स्वरूप अर्थात् वस्तु के स्वभाव का विचार करता है- चिन्तवन कर निर्णय करता है।

सुत तिय बंधु धनादि प्रगट पर, ये मुझतैं हैं भिन्न प्रदेशे।
इनकी परिणति है इन आश्रित, जो इन भाव परनमैं वैसे ॥ १ ॥

अर्थ — अपना पुत्र, स्त्री, भाई, बंधु आदि परिवार तथा धन, मकान, जायदाद आदि ये सब तेरे आत्मा से स्पष्टतः पर हैं, यों कि इन सबके प्रदेश, मेरे प्रदेशों से अलग हैं, भिन्न हैं। इसलिए इनके परिणमन, इन्हीं के आश्रय से जिसप्रकार से उनको परिणमन करना होता है उसीप्रकार वे स्वयं ही परिणमते रहते हैं। ज्ञानी जीव इसप्रकार के वस्तु के स्वरूप को समझकर, उनका कर्तृत्व एवं स्वामित्व छोड़ देता है।

देह अचेतन चेतन में इन परिणति होय एकसी कैसे।
पूरन गलन स्वभाव धरें तन, मैं अज अचल अमल नभ जैसे ॥ २ ॥

अर्थ — जीव विचारता है कि यह शरीर तो अचेतन है और मैं तो एक चेतन आत्मा हूँ अतः दोनों के परिणमन एक सरीखे कैसे हो

सकते हैं। ये सब तो पूरन-गलन अर्थात् उत्पत्ति होना और नाश होना दोनों स्वभाव वाले हैं। अतः ये तो सभी नाशवान हैं, लेकिन मैं तो अजर अमर, चलाचलता रहित और विकार रहित, आकाश के समान हूँ।

ज्ञानी तो वस्तु का स्वरूप इसप्रकार विचारता है —

पर परिनमन न इष्ट-अनिष्ट न वृथा राग रुष भेद भये सैं।
नसै ज्ञान निज फंसै बंध में, मुक्त होय सम भाव लमे सैं॥ ३॥

अर्थ — विचार करता है पर का परिणमन न तो इष्ट (हितकारक) न अनिष्ट (अहितकारक) होता है वह तो उसका परिणमन है। इसलिए तेरा इनके प्रति राग द्वेष का द्वंद खड़ा करके सुखी-दुःखी होना निरर्थक ही रहा है न। इसके फलस्वरूप तेरे ज्ञान स्वभाव का नाश करके नय बंध करेगा, अतः इनके परिणमनों के प्रति समभाव-मध्यस्थभाव रखने से तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी।

ज्ञानी जीव इसप्रकार विचारता है —

विषय चाह दव दाह नसै नहिं, बिन निज सुधा सिंधु में पैसे।
जब जिन बैन सुनें श्रवननतैं, मिटे विभाव करूँ विधि तेसें॥ ४॥

अर्थ — श्री गुरु समझाते हैं कि विषयों की चाह (इच्छा) रूपी आग (अग्नि) अन्तरंग में दावानल की भांति जलती रहती है, वह अग्नि अपने आत्मा रूपी अमृत के सागर में गोता लगाये बिना कभी नष्ट नहीं होगी। अब भगवान की वाणी (जिनवाणी) को ग्रहण करके, ऐसा पुरुषार्थ करूँगा जिससे कि मेरे विभाव भावों का नाश हो जावे।

ज्ञानी जीव इसप्रकार विचार करके निर्णय करता है —

ऐसो अवसर कठिन पाय अब, निज हित हेतु विलंब करेसैं।
पछताओ बहु होय सयाने, चेतन 'दौल' छुटौ भव मैं सें॥ ५॥

अर्थ — ज्ञानी स्वयं अन्तर्मंथन करता है कि जो अवसर अभी मिला हुआ है, ऐसा अवसर फिर मिलना कठिन है, इसलिए ऐसे अवसर में भी अगर अपने आत्मकल्याण अर्थात् अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में

लगाने में ढ़ील की (प्रमाद किया) तो हे भव्यात्मा ! तुझे बहुत पछताना पड़ेगा। इसलिए दौलतरामजी कहते हैं कि हे चेतन आत्मा ! अब तो पुरुषार्थ करके संसार परिभ्रमण से छुट्टी पा लो अर्थात् नाश कर दो।

इसप्रकार के चिन्तवनों के द्वारा ज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थ को उग्र करके संसार का अंत कर देने की भावना करता है। अन्त में ज्ञानी को आत्म विश्वास जाग्रत होता है—

अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे॥
उपजै मरै कालतैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग-दोष जग बंध करत हैं, इनको नाश करैंगे॥ १॥
देह विनाशी मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरैंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हों निखरेंगे॥ २॥
मरे अनन्तबार बिन समझै, अब सब दुःख बिसरैंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरै सुमरैंगे॥ ३॥

अर्थ — अब तो हम अमर हो गए हैं, मरेंगे नहीं। (हमने अब) शरीर धारण करने का जो (मूल) कारण है मिथ्यात्व (असत्य श्रद्धान) उसे छोड़ दिया है, तो फिर शरीर धारण क्यों करेंगे? मृत्यु के कारण प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, (हम) उसी मृत्यु को नष्ट कर देंगे। संसार के प्राणी राग-द्वेष का बंध करते हैं, (हम) तो इनका (राग-द्वेष का) ही नाश कर देंगे। शरीर तो विनाशी है किन्तु मैं अविनाशी हूँ, हम यह भेद-ज्ञान ग्रहण करेंगे। शरीर नश्वर है, वह तो नष्ट हो जायेगा, चला जायेगा, किन्तु हम स्थिर आत्मा में वास करने वाले हैं, इसलिए निष्कलंक होकर निर्मल बनेंगे। बिना समझे हुए हम अनन्त बार मरे हैं किन्तु अब तो सब दुःखों को दूर करेंगे। द्यानतरायजी कहते हैं कि केवल दो अक्षर (सोहं) हमारे बिल्कुल निकट हैं, (उन्हें) हम बिना प्रयास के स्मरण करेंगे।

आकुलित होय इमि निशदिन, कीजे तत्त्व विचारा हो।
को मैं कहा रूप है मेरा, पर हैं कौन प्रकारा हो॥

को भव कारण बन्ध कहाको, आस्रव रोकनहारा हो।
खिपत कर्म बन्धन काहेसों, थानक कौन हमारा हो॥ १॥

इमि अभ्यास किये पावत है, परमानन्द अपारा हो।
'भागचन्द' यह सार जान करि, कीजै बारंबारा हो॥ २॥

अर्थ — (हे मनुष्य!) तू तनावरहित होकर प्रतिदिन इसप्रकार तत्त्व का विचार कर कि मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? और परपदार्थ किसप्रकार का है? उसका क्या रूप है? संसार के भ्रमण का कारण क्या है? और आस्रव को रोकने का क्या उपाय है? कर्मों का बन्धन कैसे नष्ट होता है और हमारा वास्तविक स्थान कौन सा है? इसप्रकार का अभ्यास किए जाने से अपार परमानन्द पा सकता है। भागचन्दजी कहते हैं कि इस सार को समझकर (उसका) बार-बार विचार करना चाहिए।

***

हमकौं कछु भय ना रे, जान लियौ संसार॥ हमकौं॥
जो निगोद मैं सो ही मुझमैं, सो ही मोखमंझार।
निश्चय भेद कछु भी नाहीं, भेद गिनै संसार॥ हमकौं॥

परवश ह्वै आपा विसारिकै, राग दोषकौं धार।
जीवत मरत अनादि कालतैं, यौं ही है उरझार॥ हमकौं॥

जाकरि जैसैं जाहि समयमैं, जो होतब जा द्वार।
सो बनि है टरि है कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार॥ हमकौं॥

अगनि जरावै पानी बोबै, बिछुरत मिलत अपार।
सो पुद्गल रूपी मैं बुधजन, सबकौ जाननहार॥ हमकौं॥